भाषा और पर्यावरण

अनुपम मिश्र

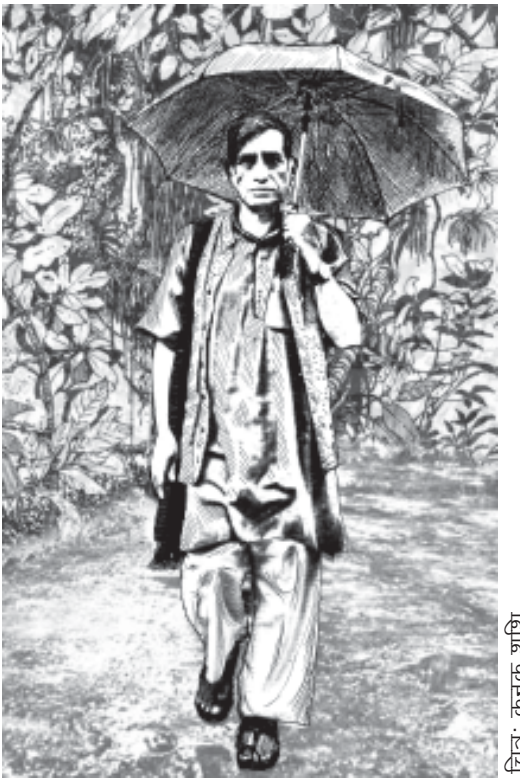

चित्रः कनक शशि

अनुपम जी को भाषा और पर्यावरण, दोनों का विशेषज्ञ माना जाता है। वे समझते थे कि एक समाज को सम्पन्न बनाए रखने में उसकी भाषा का कितना ज़बरदस्त योगदान है। वहीं पर्यावरण, उनकी निगाह में भौगोलिक संसाधनों से कहीं अधिक व कुछ और ही था। उनकी चिरस्मृति को समर्पित उन्हीं का यह अनूठा आलेख जो हमें भाषा और पर्यावरण, दोनों ही एक साथ समझा रहा है।

किसी समाज का पर्यावरण पहले बिगड़ना शुरू होता है या उसकी भाषा - हम इसे समझ कर सम्भल सकने के दौर से अभी तो आगे बढ़ गए हैं। हम 'विकसित' हो गए हैं। भाषा यानी केवल जीभ नहीं। भाषा यानी मन और माथा भी। एक का नहीं, एक बड़े समुदाय का मन और माथा जो अपने आसपास के और दूर के भी संसार को देखने-परखने-बरतने का संस्कार अपने में सहज संजो लेता है। ये संस्कार बहुत कुछ उस समाज की मिट्टी, पानी, हवा में अंकुरित होते हैं, पलते-बढ़ते हैं और यदि उनमें से कुछ मुरझाते भी हैं तो उनकी सूखी पत्तियाँ वहीं गिरती हैं, उसी मिट्टी में खाद बनाती हैं। इस खाद यानी असफलता की ठोकरों के अनुभव से भी समाज नया कुछ सीखता है। लेकिन कभी-कभी समाज के कुछ लोगों का माथा थोड़ा बदलने लगता है। यह माथा फिर अपनी भाषा भी बदलता है। यह सब इतने चुपचाप होता है कि समाज के सजग माने गए लोगों के भी कान खड़े नहीं हो पाते। इसका विश्लेषण, इसकी आलोचना तो दूर, इसे कोई क्लर्क या मुंशी की तरह भी दर्ज नहीं कर पाता।

इस बदले हुए माथे के कारण हिन्दी भाषा में 50-60 बरस में नए शब्दों की एक पूरी बारात आई है। बारातिये एक-से-एक हैं पर पहले तो दूल्हे राजा को ही देखें। दूल्हा है विकास नामक शब्द। ठीक इतिहास तो नहीं मालूम कि यह शब्द हिन्दी में कब पहली बार आज के अर्थ में शामिल हुआ होगा। पर जितना अनर्थ इस शब्द ने पर्यावरण के साथ किया है, उतना शायद ही किसी और शब्द ने किया हो। विकास शब्द ने माथा बदला और फिर उसने समाज के अनगिनत अंगों की थिरकन को थामा। अँग्रेज़ों के आने से ठीक पहले तक समाज के जिन अंगों के बाकायदा राज थे, वे लोग इस भिन्न विकास की 'अवधारणा' के कारण आदिवासी कहलाने लगे। नए माथे ने देश के विकास का जो नया नक्शा बनाया, उसमें ऐसे ज़्यादातर इलाके 'पिछड़े' शब्द के रंग से ऐसे रंगे गए जो कई पंचवर्षीय योजनाओं के झाड़ू-पोंछे से भी हल्के नहीं पड़ पा रहे। अब हम यह भूल ही चुके हैं कि ऐसे ही 'पिछड़े' इलाकों की सम्पन्नता से, वनों से, खनिजों से, लौह-अयस्क से देश के अगुआ मान लिए गए हिस्से कुछ टिके-से दिखते हैं।

कुछ मुठ्ठी-भर लोग पूरे देश की देह का, उसके हर अंग का विकास करने में जुट गए हैं। ग्राम विकास तो ठीक, बाल विकास, महिला विकास सब कुछ लाइन में हैं। अपने को, अपने समाज को समझे बिना उसके विकास की इस विचित्र उतावली में गज़ब की सर्वसम्मति है। सभी राजनैतिक दल, सभी सरकारें, सभी सामाजिक संस्थाएँ, चाहे वे धार्मिक हों, मिशन वाली हों, या वर्ग संघर्ष वाली - गर्व से विकास के काम में

लगी हैं, विकास की इस नई अमीर भाषा ने एक नई रेखा भी खींची है - गरीबी की रेखा। लेकिन इस रेखा को खींचने वाले सम्पन्न लोगों की गरीबी तो देखिए कि उनकी तमाम कोशिशें रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या में कमी लाने के बदले उसे लगातार बढ़ाती जा रही हैं।

पर्यावरण की भाषा इस सामाजिक-राजनैतिक भाषा से रत्ती-भर अलग नहीं है। वह हिन्दी भी है। यह कहते हुए डर लगता है। बहुत हुआ तो आज के पर्यावरण की ज़्यादातर भाषा देवनागरी कही जा सकती है। लिपि के कारण राजधानी में पर्यावरण मंत्रालय से लेकर हिन्दी राज्यों के कस्बों, गाँवों तक के लिए बनी पर्यावरण संस्थाओं की भाषा कभी पढ़कर तो देखें। ऐसा पूरा साहित्य, लेखन, रिपोर्ट सब कुछ एक अटपटी हिन्दी से पटा पड़ा है।

कचरा-शब्दों का और उनसे बनी विचित्र योजनाओं का ढेर लगा है। इस ढेर को 'पुनर्चक्रित' भी नहीं किया जा सकता। दो-चार नमूने देखें। सन् 80 से आठ-दस बरस तक पूरे देश में सामाजिक वानिकी नामक योजना चली। किसी ने भी नहीं पूछा कि पहले यह तो बता दो कि असामाजिक वानिकी क्या है। यदि इस शब्द का, योजना का सम्बन्ध समाज के वन से है, गाँव के वन से है तो हर राज्य के गाँवों में ऐसे विशिष्ट ग्रामवन, पंचायती वनों के लिए एक भरा-पूरा शब्द-भण्डार, विचार और व्यवहार का संगठन काफी समय तक रहा है। कहीं उस पर थोड़ी धूल चढ़ गई थी तो कहीं वह मुरझा गया था, पर वह मरा तो नहीं था। उस दौर में कोई संस्था आगे नहीं

आई इन बातों को लेकर। मरुप्रदेश में आज भी ओरण (अरण्य से बना शब्द) हैं। ये गाँवों के वन, मन्दिर देवी के नाम पर छोड़े जाते हैं। कहीं-कहीं तो मीलों फैले हैं ऐसे जंगल। इनके विस्तार की, संख्या की कोई व्यवस्थित जानकारी नहीं है। वन विभाग कल्पना भी नहीं कर सकता कि लोग ओरणों से एक तिनका भी नहीं उठाते।

अकाल के समय में ही इनको खोला जाता है। वैसे ये खुले ही रहते हैं, न कँटीले तारों का घेरा है, न दीवारबन्दी ही। श्रद्धा, विश्वास का घेरा इन वनों की रखवाली करता रहा है। हज़ार-बारह सौ बरस पुराने ओरण भी यहाँ मिल जाएँगे। जिसे कहते हैं बच्चे-बच्चे की ज़बान पर ओरण शब्द रहा है पर राजस्थान में अभी कुछ ही बरस पहले तक सामाजिक संस्थाएँ, श्रेष्ठ वन-विशेषज्ञ या तो इस परम्परा से अपरिचित थे या अगर जानते थे तो कुछ कुतूहल भरे, शोध वाले अन्दाज़ में। ममत्व, यह हमारी परम्परा है, ऐसा भाव नहीं था उस जानकारी में।

ऐसी हिन्दी की सूची लम्बी है, शर्मनाक है। एक योजना देश की बंजर भूमि के विकास की आई थी। उसकी सारी भाषा बंजर ही थी। सरकार ने कोई 300 करोड़ रुपया लगाया होगा पर बंजर-की-बंजर रही भूमि। फिर योजना ही समेट ली गई। और सबसे ताज़ी योजना है जलागम क्षेत्र विकास की। यह अँग्रेज़ी के वॉटरशेड डेवलपमेंट का हिन्दी रूप है। इससे जिनको लाभ मिलेगा, वे लाभार्थी कहलाते हैं, कहीं हितग्राही भी हैं। 'यूज़र्स ग्रुप' का सीधा अनुवाद उपयोगकर्ता समूह भी इसमें है। तो एक तरफ साधन सम्पन्न योजनाएँ हैं, लेकिन समाज से कटी हुईं। जन-भागीदारी का दावा करती हैं पर जन इनसे भागते नज़र आते हैं तो दूसरी तरफ मिट्टी और पानी के खेल को कुछ हज़ार बरस से समझने वाला समाज है। उसने इस खेल में शामिल होने के लिए कुछ आनन्ददायी नियम, परम्पराएँ, संस्थाएँ बनाई थीं। किसी अपरिचित शब्दावली के बदले एक बिलकुल आत्मीय ढाँचा खड़ा किया था। चेरापूंजी जहाँ पानी कुछ गज भर गिरता है, वहाँ से लेकर जैसलमेर तक जहाँ कुल पाँच-आठ इंच वर्षा हो जाए तो भी आनन्द बरस गया - ऐसा वातावरण बनाया। हिमपात से लेकर रेतीली आँधी में पानी का काम, तालाबों का काम करने वाले गजधरों के संगठन का आकार इतना बड़ा था कि वह सचमुच निराकार हो गया। आज पानी का, पर्यावरण का काम करने वाली बड़ी-से-बड़ी संस्थाएँ उस संगठन की कल्पना तो करके देखें। लेकिन वॉटरशेड, जलागम क्षेत्र विकास का काम कर रही संस्थाएँ, सरकारें उस निराकार संगठन को देख ही नहीं पातीं। उस निराकार से टकराती हैं, गिर भी पड़ती हैं, पर उसे देख-पहचान नहीं पातीं। उस संगठन के लिए तालाब एक वॉटर-बॉडी नहीं था। वह उसकी रतन तलाई थी। झुमरी तलैया थी,

जिसकी लहरों में वह अपने पुरखों की छवि देखता था। लेकिन आज की भाषा जलागम क्षेत्र विकास को मत्स्य पालन से होने वाली आमदनी में बदलती है।

इसी तरह अब नदियाँ यदि घर में बिजली का बल्ब न जला पाएँ तो माना जाता है कि वे 'व्यर्थ में पानी समुद्र में बहा रही हैं'। बिजली ज़रूर बने, पर समुद्र में पानी बहाना भी नदी का एक बड़ा काम है। इसे हमारी नई भाषा भूल रही है। जब समुद्रतटीय क्षेत्रों में भूजल बड़े पैमाने पर खारा होने लगेगा तब हमें नदी की इस भूमिका का महत्व पता चलेगा। लेकिन आज तो हमारी भाषा ही खारी हो चली है। जिन सरल, सजल शब्दों की धाराओं से वह मीठी बनती थी, उन धाराओं को बिलकुल नीरस, बनावटी, पर्यावरणीय, पारिस्थितिक जैसे शब्दों से बाँधा जा रहा है। अपनी भाषा, अपने ही आंगन में विस्थापित हो रही है, वह अपने ही आंगन में पराई बन रही है।

अनुपम मिश्र (1948-2016): गांधीवादी, लेखक, पत्रकार, पर्यावरणविद् और जल संरक्षणकर्ता थे जिन्होंने जल संरक्षण, जल संचालन और बारिश के पानी के संरक्षण की परम्परागत तकनीकों का प्रचार किया और प्रोत्साहित किया। इनको *इंदिरा गांधी पर्यावरण पुरस्कार* से सम्मानित किया चा चुका है। *आज भी खरे हैं तालाब* और *राजस्थान की रजत बूँदें* जैसी प्रसिद्ध किताबों के लेखक। वे *गांधी मार्ग* पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे थे।

सभी चित्र: इशिता बिस्वास: दिल्ली विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर। सृष्टि स्कूल ऑफ आर्ट, डिज़ाइन एंड टेक्नोलॉजी, बैंगलोर से आर्ट और डिज़ाइन में डिप्लोमा। स्वतंत्र चित्रकार एवं डिज़ाइनर हैं। साथ ही, एकलव्य की डिज़ाइन टीम की सदस्य।

यह लेख *सर्वोदय प्रेस सर्विस* के अंक-39, 23 दिसम्बर, 2016 से साभार।

अनुपम मिश्र का एक और लेख 'भाषा, अनुभव और विज्ञान' *संदर्भ* के अंक-32 में प्रकाशित किया गया था।